## ( ८ )

# त्रिदण्ड

बुद्ध ने तथा उनके शिष्यों ने कायकर्म, वचन कर्म और मनःकर्म ऐसे त्रिविध कर्मों का बन्धन रूप से प्रतिपादन किया है। इसी तरह उन्होंने प्राणातिपात, मृषावाद आदि दोषों को अनर्थ रूप कहकर उनकी विरति को लाभलायक प्रतिपादित किया है तथा संवर अर्थात् पापनिरोध और निर्जरा अर्थात् कर्मक्षय को भी चारित्र के अंगरूप से स्वीकार किया है। कोई भी चारित्रलक्षी धर्मोपदेशक उपर्युक्त मन्तव्यों को बिना माने अपना आध्यात्मिक मन्तव्य लोगों को समझा नहीं सकता। इसलिए अन्य श्रमणों की तरह बुद्ध ने भी उपर्युक्त मंतव्यों का स्वीकार व प्रतिपादन किया हो तो यह स्वाभाविक ही है। परन्तु हम देखते हैं कि बौद्ध पिटकों में बुद्ध ने या बौद्ध-भिक्षुओं ने अपने उपर्युक्त मंतव्यों को सीधे तौर से न बतलाकर द्रविड-प्राणायाम किया है। क्योंकि उन्होंने अपना मंतव्य बतलाने के पहले निर्ग्रन्थ परंपरा की परिभाषाओं का और परिभाषाओं के पीछे रहे हुए भावों का प्रतिवाद किया है और उनके स्थान में कहीं तो मात्र नई परिभाषा बतलाई है और कहीं तो निर्ग्रन्थ-परंपरा की अपेक्षा अपने जुदा भाव व्यक्त किया है। उदाहरणार्थ-निर्ग्रन्थ-परंपरा त्रिविधकर्म के लिए कायदंड, वचनदंड और मनोदंड[१] जैसी परिभाषा का प्रयोग करती थी और आज भी करती है। उस परिभाषा के स्थान में बुद्ध इतना ही कहते हैं कि मैं कायदंड, वचनदंड और मनोदंड के बदले कायकर्म, वचनकर्म और मनःकर्म कहता हूँ। और निर्ग्रन्थों की तरह कायकर्म की नहीं पर मन की प्रधानता मानता हूँ।[२] इसी तरह बुद्ध कहते हैं कि महाप्राणातिपात और मृषावाद आदि दोषों को मैं भी दोष मानता हूँ पर उसके कुफल से बचने का रास्ता जो मैं बतलाता हूँ वह निर्ग्रन्थों के बतलाए रास्ते से बहुत अच्छा है। बुद्ध संवर और निर्जरा को मान्य रखते हुए मात्र इतना ही कहते हैं कि मैं भी उन दोनों तत्त्वों को मानता हूँ पर मैं निर्ग्रन्थों की तरह निर्जरा के साधन रूप से तप का स्वीकार न करके उसके साधन रूप से शील, समाधि और प्रज्ञा का विधान करता हूँ।[३]

जुदे-जुदे बौद्ध-ग्रन्थों में आये हुए उपर्युक्त भाव के कथनों के ऊपर से यह बात सरलता से समझ में आ सकती है कि जब कोई नया सुधारक या विचारक

१. स्थानांग-तृतीय स्थान सू० २२०

२. मज्झिमनिकाय सु० ५६।

३. अंगुत्तर vol. I. p. २२०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपना स्वतंत्र मार्ग स्थापित करता है तब उसको या तो पुरानी परिभाषाओं के स्थान में कुछ नई-सी परिभाषाएँ गढ़नी पड़ती हैं या पुरानी परिभाषाओं के पीछे रहे हुए पुरानी परंपराओं के भावों के स्थान में नया भाव बतलाना पड़ता है। ऐसा करते समय जाने या अनजाने वह कभी-कभी पुराने मतों की समीक्षा करता है। उदाहरणार्थ ब्राह्मण और यज्ञ जैसे शब्द वैदिक-परंपरा में अमुक भावों के साथ प्रसिद्ध थे। जब बौद्ध, जैन आदि श्रमण-परपराओं ने अपना सुधार स्थापित किया तब उन्हें ब्राह्मण और यज्ञ जैसे शब्दों को लेकर भी उनका भाव अपने सिद्धान्तानुसार बतलाना पड़ा।[१] इससे ऐतिहासिक तथ्य इतना तो निर्विवाद रूप से फलित होता है कि जिन परिभाषाओं और मन्तव्यों की समालोचना नया सुधारक या विचारक करता है, वे परिभाषाएँ और वे मन्तव्य जनता में प्रतिष्ठित और गहरी जड़ जमाए हुए होते हैं; ऐसा बिना हुए नये सुधारक या विचारक को उन पुरानी परिभाषाओं का आश्रय लेने की या उनके अन्दर रहे हुए रूढ़ पुराने भावों की समालोचना करने की कोई जरूरत ही नहीं होती।

यदि यह विचारसरणी ठीक है तो हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि कायदंड आदि त्रिविध दंडों की, महान् प्राणातिपात आदि दोषों से दुर्गतिरूप फल पाने की तथा उन दोषों की विरति से सुफल पाने की और तप के द्वारा निर्जरा होने की तथा संवर के द्वारा नया कर्म न आने की मान्यताएँ निर्ग्रन्थ-परंपरा में बहुत रूढ हो गयी थीं, जिनका कि बौद्ध भिक्षु सच्चा-झूठा प्रतिवाद करते हैं।

निर्ग्रन्थ-परंपरा की उपर्युक्त परिभाषाएँ और मान्यताएँ मात्र महावीर के द्वारा पहले पहल चलाई हुई या स्थापित हुई होतीं तो बौद्धों को इतना प्रबल सच-झूठ प्रतिवाद करना न पड़ता। स्पष्ट है कि त्रिदंड की परिभाषा और सँवर-निर्जरा आदि मंतव्य पूर्वकालीन निर्ग्रन्थ-परंपरा में से ही महावीर को विरासत में मिले थे।

हम बौद्ध-ग्रन्थों के साथ जैन आगमों की तुलनात्मक चर्चा से यहाँ इतना ही कहना चाहते हैं कि जैन आगमों में जो कायदंड आदि तीन दंडों के नाम आते हैं और तीन दंडों की निवृत्ति का अनुक्रम से कायगुप्ति, वचनगुप्ति और मनोगुप्ति रूप से विधान आता है तथा नवतत्त्वों में संवर-निर्जरा का जो वर्णन है तथा तप को निर्जरा का साधन माना गया है और महाप्राणातिपात, मृषावाद आदि दोषों से बड़े अपाय का कथन आता है वह सब निर्ग्रन्थ-परंपरा की परिभाषा और विचार विषयक प्राचीन सम्पत्ति है।

---

१. उत्तराध्ययन अ० २५; अ० १२. ४१, ४२, ४४; धम्मपद वर्ग २६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बौद्ध-पिटकों तथा जैन-ग्रन्थों को पढ़नेवाला सामान्य अभ्यासी केवल यही जान पाता है कि निर्ग्रन्थ-परंपरा ही तप को निर्जरा का साधन माननेवाली है परन्तु वास्तव में यह बात नहीं है। जब हम सांख्य-योग-परंपरा को देखते हैं तब मालूम पड़ता है कि योग-परंपरा भी निर्जरा के साधन रूप से तप पर उतना ही भार देती आई है जितना भार निर्ग्रन्थ-परंपरा उस पर देती है। यही कारण है कि उपलब्ध योग-सूत्र के रचयिता पतंजलि ने अन्य साधनों के साथ तप को भी क्रिया-योग रूप से गिनाया है (२-१) इतना ही नहीं बल्कि पतञ्जलि ने क्रिया-योग में तप को ही प्रथम स्थान दिया है।

इस सूत्र का भाष्य करते हुए व्यास ने सांख्य-योग्य-परंपरा का पूरा अभिप्राय प्रगट कर दिया है। व्यास कहते हैं कि जो योगी तपस्वी नहीं होता वह पुरानी चित्र-विचित्र कर्म-वासानाओं के जाल को तोड़ नहीं सकता। व्यास का पुरानी वासनाओं के भेदक रूप से तप का वर्णन और निर्ग्रंथ-परंपरा का पुराण कर्मों की निर्जरा के साधन रूप से तप का निरूपण-ये दोनों श्रमण-परंपरा की तप संबन्धी प्राचीनतम मान्यता का वास्तविक स्वरूप प्रगट करते हैं। बुद्ध को छोड़कर सभी श्रमण-परंपराओं ने तप का अति महत्त्व स्वीकार किया है। इससे हम यह भी समझ सकते हैं कि ये परंपराएँ श्रमण क्यों कहलाईं ? मूलक में श्रमण का अर्थ ही तप करनेवाला है। जर्मन विद्वान् विन्टरनित्स् ठीक कहता है कि श्रामणिक-साहित्य वैदिक-साहित्य से भी पुराना है जो जुदे-जुदे रूपों में महाभारत, जैनागम तथा बौद्ध-पिटकों में सुरक्षित है। मेरा निजी विचार है कि सांख्य-योग-परंपरा अपने विशाल तथा मूल अर्थ में सभी श्रमण-शाखाओं का संग्रह कर लेती है। श्रमण-परंपरा के तप का भारतीय-जीवन पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा है कि वह किसी भी प्रान्त में, किसी भी जाति में और किसी भी फिरके में सरलता से देखा जा सकता है। यही कारण है कि बुद्ध तप का प्रतिवाद करते हुए भी 'तप' शब्द को छोड़ न सके। उन्होंने केवल उस शब्द का अर्थ भर अपने अभिप्रायानुकूल किया है।

## ( ६ )

## लेश्या-विचार

वैदिक-परंपरा में चार वर्णों की मान्यता धीरे-धीरे जन्म के आधार पर स्थिर हो गई थी। जब वह मान्यता इतनी सख्त हो गई कि आन्तरिक योग्यता रखता हुआ भी एक वर्ण का व्यक्ति अन्य वर्ण में या अन्य वर्णयोग्य धर्मकार्य में प्रविष्ट

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org